हिन्दी ग़ज़ल का इतिहास तथा मेरी ग़ज़ल–यात्रा

यों तो हिन्दी की कविता के साथ–साथ ग़ज़ल लिखने की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से चली आ रही है जिनका रूप उनकी कविताओं के संग्रह में देखा जा सकता है; परन्तु वे ग़ज़लें उर्दू की ग़ज़लों से तनिक भी भिन्न नहीं हैं. उन्हें हम हिन्दी ग़ज़ल इसी अर्थ में कह सकते हैं कि वे खड़ी बोली के जन्मदाता भारतेन्दुजी द्वारा लिखी गयीं हैं. भारतेन्दुजी उर्दू ग़ज़लें तो लिख लेते थे पर वे उर्दू के हिमायती नहीं थे और 'बीबी उर्दू हाय–हाय' के नाम से उसका मर्सिया तक लिख डाला था. भारतेन्दुजी की ग़ज़लें हिन्दी ग़ज़लों के इतिहास में स्थान नहीं पा सकतीं

भारतेन्दुजी के बाद प्रायः उसी शैली में ब्रजभाषा के आचार्य लाला भगवान 'दीन' ने भी ग़ज़लें लिखीं परन्तु नागरी अक्षरों में लिखी जाने वालीं वे उर्दू की गज़लें ही मानी जायेंगीं.

लाला भगवान 'दीन' जी के बाद १९४५ के आसपास निरालाजी ने उर्दू से दूर रहकर हिन्दी में ग़ज़लें लिखने का प्रयास किया जिन्हें हिन्दी में ग़ज़ल लिखने का प्रारम्भिक प्रयास कहा जा सकता है परन्तु उस समय निरालाजी ग़ज़ल की मार्मिक संवेदना तथा अनुभूति की अनदेखी करके केवल उर्दू छन्दों को हिन्दी में उतारने में लगे थे. उर्दू के छन्दों के अतिरिक्त उनमें ग़ज़लियत के दर्शन नहीं होते. निराला जी की प्रतिभा का उसमें लवलेश भी नहीं था. ग़ज़ल केवल छन्द नहीं है. उसमें अनुभूति की गहराई के अतिरिक्त विशेष प्रकार की संवेदनशीलता तथा कथन–भंगिमा भी होनी चाहिये जो निरालाजी की ग़ज़लों में नहीं मिलती. इस सन्दर्भ में निम्नलिखित प्रसंग उलेखनीय है.

सन् १९४६ में एक बार काशी के एक साहित्यिक आयोजन

में मुझे पूरा दिन निरालाजी के साथ बिताने का अवसर मिला. उन दिनों उनपर ग़ज़ल का नशा छाया हुआ था. जैसा कि मैंने लिखा है, वे समझते थे कि उर्दू के वज़न के आधार पर हिन्दी में शब्दावली संजो देने से ही ग़ज़ल बन जायेगी. वे सारे दिन कापी और कलम लेकर मफ़ऊल मफ़ाऊलन जैसे शब्दों को बोलते हुये उनके अनुसार हिन्दी में शब्द बैठाने में लगे रहे. वे इस प्रकार जोड़ी हुई पंक्ति रुक-रुक कर मुझे सुनाते हुये मुझसे वाहवाही भी सुनना चाहते थे.

निराला जी के अभिन्न मित्र तथा मेरे साहित्य-गुरु बेढबजी ने मुझे हिदायत कर रक्खी थी कि मैं निरालाजी की किसी बात का विरोध न करूँ. वे जैसा सुनना चाहें वैसा मुझे उन्हें सुनाते रहना है. निरालाजी उन शब्दों को बोलकर उनके अनुरूप हिन्दी शब्दों की जो भी पंक्ति बना कर मुझे सुनाते थे, मैं उस पर वाह-वाह कर देता था. दिन भर परिश्रम करके उस दिन की जोड़ी हुई उनकी दो ग़ज़लों के एक-दो शेर मुझे अब भी याद हैं. एक ग़ज़ल का पहला शेर था

'उनके बाग़ में बहार देखता चला गया'

इसकी दूसरी पंक्ति मुझे याद नहीं है. पर एक पंक्ति जो अपनी निरर्थकता के कारण मेरी स्मृति में अटकी हुई है वह है:

'जवानी का पानीदार देखता चला गया'

दूसरी ग़ज़ल जो उन्होंने उस दिन मुझे सुनाई उसका पहला शेर था

"छन्दों को विनिस्तार दिये जा रहा हूँ मैं
विस्तार को विस्तार किये जा रहा हूँ मैं"

ऐसी ग़ज़लों में कितनी ग़ज़लियत हो सकती है, सहज ही समझी जा सकती है. बाद में बेढबजी मुझे मफ़ऊल, मफ़ाऊलुन जैसे शब्दों के विषय में बताया कि वे उर्दू की ग़ज़लों की छन्द-योजना के आधार हैं.

निराला जी की उस दौर मे लिखी ग़ज़लें उनके काव्य-संग्रहों

में देखी जा सकती हैं. उन कुछ ग़ज़लों के आधार पर ग़ज़लियत के अभाव में हम निरालाजी को हिन्दी ग़ज़ल के इतिहास में स्थान नहीं दे सकते. उनकी चर्चा भर इसीलिये कर सकते हैं कि वे निरालाजी की हैं तथा खड़ी बोली की शुद्ध हिन्दी पदावली को उर्दू के छन्दशास्त्र के अनुसार मफ़ऊल, मफ़ाऊलुन के वज़न पर बिठाने का यह पहला प्रयास था.

निराला जी के इस प्रयोग के बाद मेरे आदरणीय मित्र रुद्र काशिकेय ने १९६८–६९ के आसपास हिन्दी में ग़ज़ल लिखने का प्रयास किया. उनकी ग़ज़लों की पुस्तक 'ग़ज़लिका' नाम से प्रकाशित हुई परन्तु उसमें भी उर्दू के आधार पर उसी के छन्दों में की गयी शब्द–योजना के अतिरिक्त ग़ज़ल की संवेदना के दर्शन नहीं होते. उसमें उर्दू ग़ज़लों का–सा बांकपन और कथन–भंगिमा नहीं है. उसी समय जौनपुर के हिन्दी कवि रूपनारायण त्रिपाठी की पुस्तक 'रूपरश्मि' प्रकाशित हुई जिसमें उनके मुक्तक, रुबाई और ग़ज़लों का संग्रह है.

परन्तु उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी की भाषा है. रूपनारायणजी में उर्दू की ग़ज़लों का–सा बांकपन और कथन–भंगिमा तो है पर उनकी गणना हिन्दी की गीत–परंपरा में ही हो सकती है. उनकी संवेदना और भावभूमि में ग़ज़ल का प्रारंभिक रूप देखा जा सकता है. हिन्दी ग़ज़लों के इतिहास में उनका उल्लेख तो किया जाना चाहिये किन्तु उसके प्रवर्तक का स्थान नहीं दिया जा सकता.

इन्हीं दिनों कविवर शमशेर तथा बलबीर सिंह 'रंग' भी सुन्दर ग़ज़लें लिख रहे थे परन्तु उनकी ग़ज़लें उर्दू ग़ज़लों से भिन्न नहीं थीं. केवल नागरी में मुद्रित थीं. उन्होंने स्वयं भी कभी हिन्दी ग़ज़ल लिखने का दावा नहीं किया था.

सन् १९७० तक ५०० चतुष्पदियों, (जिन्हें हम रुबाई तथा क़ता कह सकते हैं) दोहों, आदि के अपने संग्रह 'रूप की धूप' के

प्रकाशन के बाद मुझमें हिन्दी में ग़ज़लें लिखने की प्रेरणा जगी. मैं चाहता था कि मैं हिन्दी में ऐसी ग़ज़लें लिखूँ जिन्हें मेरी प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के कारण उर्दू की श्रेष्ठ ग़ज़लों के साथ रखा जा सके. यह तभी सम्भव था जब उनमें संवेदना की गहराई के साथ उर्दू ग़ज़लों का-सा तेवर, उद्धरणशीलता, गेयता तथा कथन-भंगिमा भी हो. इन के अतिरिक्त मैं उनमें अन्विति तथा बिम्ब-विधान भी जोड़ देना चाहता था. अन्विति से मेरा तात्पर्य यह है कि ग़ज़लों के शेर स्वतन्त्र होते हुये भी उनकी मनःस्थिति एक-सी हो जिसका निर्वाह होने से अन्त में उनका समन्वित प्रभाव पड़े तथा उसमें रस की मधुमती भूमिका न होने पर भी रसानुभव तो हो ही जाय.

अन्विति के द्वारा रसानुभव होने से ही पूरी ग़ज़ल किस प्रकार अधिक सराही जा सकती है, इसके उदाहरण हैं बहादुर शाह 'ज़फ़र' की सुप्रसिद्ध ग़ज़ल 'लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में', मोमिन की ग़ज़ल 'तुम्हें याद हो कि न याद हो' तथा हसरत मुहानी की लोकप्रिय ग़ज़ल 'चुपके-चुपके रात-दिन आँसू बहाना याद है' इत्यादि.

अपनी ग़ज़लों के प्रारम्भ में ही मुझे पता चल गया कि उनमें मेरी चतुष्पदी (रूपक और क़ता) वाली शुद्ध हिन्दी के प्रयोग से वह ग़ज़लियत नहीं आ सकती जो उन्हें उर्दू ग़ज़लों के समक्ष रखने के लायक बना सके. इसके लिये मुझे हिन्दी शब्दों के साथ हिन्दी में स्वीकृत, हिन्दी के अपने बने हुये उर्दू शब्दों को भी रखना होगा और ग़ज़लों के लिये नवीन प्रतीक-योजना, convention, और रदीफ़ आदि रखते हुये भी उन्हें ऐसा स्वरूप देना होना जो उनको उर्दू की ग़ज़लों के समान मोहक रूप दे सके.

ग़ज़लों के लिये नयी भाषा गढ़ना कोई साधारण कार्य नहीं था. उसके लिये अपने पूर्ववर्ती निरालाजी तथा समकालीन ग़ज़ल-प्रयोक्ता रुद्र काशिकेय, रूपनारायण त्रिपाठी आदि से किसी प्रकार की

सहायता नहीं मिल सकती थी. इसके अतिरिक्त पूरी ग़ज़ल में एक मनःस्थिति तभी रक्खी जा सकती है जब कवि की एक–सी मनःस्थिति में वह एक बार ही भावावेश में लिखी जाय. ये दोनों आवश्यकतायें १९६९–७० के आसपास मैं पूरी कर सकता था. अब तो इधर की लिखी एक ग़ज़ल में मैंने अपनी मनःस्थिति को इस प्रकार व्यक्त किया है:

"यह तो आदत है कि जो आह किये जाता हूँ
दर्द होता था जहाँ अब तो वह दिल ही न रहा"

हिन्दी में लिखी अपनी पहली ग़ज़ल के पहले शेर में ही उर्दू ग़ज़लों की विशेषता रखते हुये भी अपनी ग़ज़ल से उनकी भिन्नता तथा अपनी मौलिकता की कल्पना को मैंने इस प्रकार घोषित किया था:

"कुछ हम भी लिख गये हैं तुम्हारी क़िताब में
गंगा के जल को ढाल न देना शराब में"

उपर्युक्त शेर से यह प्रकट हो जायगा कि हिन्दी में ग़ज़ल लिखने की मेरी योजना ग़ज़ल को उर्दू के सीमित, पुराने प्रतीकों से हटकर जीवन की विस्तृत भावभूमि पर स्थापित करने की थी. इस पहली ग़ज़ल के अन्तिम शेर में मैंने अपने नाम को प्रतीक बनाकर यह शेर लिख दिया:

"हमने ग़ज़ल का और भी गौरव बढ़ा दिया
रंगत नई तरह की जो भर दी गुलाब में"

मैंने ग़ालिब और मीर को अपना आदर्श माना था जो मेरी प्रारम्भिक ग़ज़लों के निम्न शेरों से स्पष्ट हो जायेगा:

"मीर, ग़ालिब को छूना खेल नहीं
फिर भी करके प्रयास देखेंगे"

और थोड़ा आगे चलकर लिखा––

"कहाँ मीर, ग़ालिब की ग़ज़लें कहाँ मैं

बनाने से थोड़ी हवा बन गयी है"

उर्दू ग़ज़लों से अपनी ग़ज़लों को भिन्न रखते हुये मैंने मन में यह ठान रक्खा था--

"जहाँ भी हमको मिली राह कोई जानी हुई
वहीं से पाँव को तिरछा हटा के रक्खा है"

उर्दू के मूर्धन्य शायर 'फ़िराक़' गोरखपुरी के जीवनकाल में ग़ज़लों के मेरे दो संग्रह, 'सौ गुलाब खिले' तथा 'पँखुरियाँ गुलाब की' प्रकाशित हो चुके थे जिनके विषय में मेरी उनसे चर्चा होती रहती थी. 'सौ गुलाब खिले' के सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी की:

"आपने नया रास्ता बनाया है पर साहित्य preferancial होता है, exclusive नहीं होता. आपकी ग़ज़लों का स्वागत करते हुये भी मुझे अपना पुराना रास्ता ही पसन्द है."

'पँखुरियाँ गुलाब की' के विषय में उन्होंने कहा कि आपने सिम्पल उर्दू में ग़ज़लें लिखी हैं. उनके इस कथन को स्वीकार करने से तो हिन्दी में ग़ज़ल लिखने का मेरा सारा प्रयास ही निष्फल हो जाता. मैंने उन्हें चुनौती देते हुये कहा कि मेरे दोनों ग़ज़ल-संग्रहों में से एक भी ऐसा उर्दू का शब्द दिखा दें जो हिन्दी का नहीं बन गया हो, या मैंने उनमें कहीं इज़ाफ़त का प्रयोग किया हो(इज़ाफ़त का अर्थ है दो शब्दों को उर्दू के अनुसार मिलाना जैसे दर्देदिल अर्थात् दिल का दर्द, तीरेनज़र अर्थात् नज़रों का तीर). इसके बाद मैंने उन्हें अपना यह शेर सुनाया:

"बहुत से वक्त ऐसे भी कटे हैं जब कि घबरा कर
ये सोचा मैंने मन में, मैं नहीं होता तो क्या होता"

इसमें 'नहीं' क़ाफ़िया (तुक) है तथा 'नहीं होता तो क्या होता' रदीफ़ (स्थायी पदावली) है. चूँकि हिन्दी में नहीं की तुक में यहीं, वहीं, कहीं जैसे चार ही शब्द हैं, इसलिये इस उपर्युक्त शेरवाली ग़ज़ल में मैं चार ही शेर लिख सका. यदि सरल उर्दू में लिखता तो

मुझे तुक के लिये ज़मीं, हसीं जैसे सैंकड़ों शब्द मिल सकते थे. जैसे तूफ़ान को तो मैं हिन्दी शब्द मानता हूँ परन्तु तूफ़ाँ होते ही वह शब्द हिन्दी से बाहर निकल जाता है.

दूसरी कठिनाई यह थी कि मैं दो शब्दों का हिन्दी व्याकरण के अनुसार समास भी नहीं कर सकता था. वैसा करने से मेरी ग़ज़लियत ही समाप्त हो जाती और इज़ाफ़त करने से मेरी ग़ज़ल उर्दू की बन जाती. इस प्रकार के निष्कंप संतुलन का ३६५ ग़ज़लों तक निर्वाह कितना कठिन है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है. देवी सरस्वती की कृपा से ही यह चमत्कार संभव हो सका है.

प्रारम्भ में १९७०–७१ में मेरी ग़ज़लें साप्ताहिक 'आज' में हिन्दी ग़ज़ल के नाम से छपती थीं तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान में भी इसी नाम से प्रकाशित हुई थीं. एक बार शंकर दयाल सिंह (एम.पी.) के आवास पर मुझे कश्मीर के युवराज कर्णसिंह के साथ दो दिन रुकने का अवसर मिला. उन्होंने स्वयं मेरे द्वारा अनूदित मेरी कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका लिखना ही नहीं स्वीकार किया बल्कि मेरी ग़ज़लों को सुनकर उन्हें 'हिन्दी ग़ज़ल' न कहकर केवल 'ग़ज़ल' कहने का सुझाव भी दिया जिसे मैंने थोड़े विचार–विमर्श के बाद स्वीकार कर लिया.

१९७३ में मेरी १०८ ग़ज़लों के संग्रह 'सौ गुलाब खिले' के प्रकाशन के बाद १९७६ में श्री दुष्यन्त कुमार की ६०–७० ग़ज़लों का संग्रह 'धूप में साया' प्रकाशित हुआ. इसकी अधिकांश ग़ज़लें सामाजिक संदर्भों पर रची गई हैं. इसके शेर कहीं उर्दू के–से हैं तो कहीं शुद्ध हिन्दी के. इसके कुछ समय बाद ही दुर्भाग्य से दुष्यन्त कुमार का स्वर्गवास हो गया और इस दिशा में वे आगे कुछ काम नहीं कर सके.

एक बार दिल्ली में मिलने पर 'कादम्बिनी' के संपादक ने मुझसे अपनी रचना भेजने का आग्रह किया. मैंने अपनी चार ग़ज़लें

भेज दीं जो उन्होंने यह कहकर लौटा दी कि वे हिन्दी ग़ज़ल जैसी कविता को स्वीकार नहीं करते. उनके मुक्तक भेजने के अनुरोध को मैंने यह कहकर ठुकरा दिया कि अपने मुक्तकों को छपाने की मुझे कोई उत्कंठा नहीं है.

मेरी उक्त चारों ग़ज़लें 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के अक्टूबर १९७१ के अंक में मेरी फोटो के साथ 'हिन्दी ग़ज़ल' के नाम से छपीं. बाद में 'कादम्बिनी' के उन्हीं संपादक महोदय ने दुष्यन्त कुमार की मृत्यु पर उनकी पुस्तक 'धूप में साये' की ग़ज़लें प्रकाशित करते हुये उन्हें हिन्दी का प्रथम ग़ज़लकार घोषित किया तथा इसी एक पुस्तक के आधार पर उन्हें हिन्दी ग़ज़लों के प्रवर्तक का नाम दे दिया. एक बार न्युयार्क में मेरी ग़ज़लों के एक आयोजन में बंबई की सुप्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती शुक्ला शाह से मिलना हुआ. उन्होंने उपस्थित लोगों को बताया कि स्वयं दुष्यन्त कुमार ने उनसे कहा था कि मैंने गुलाबजी की ग़ज़लों से ही ग़ज़ल लिखने की प्रेरणा ग्रहण की है. साहित्य की श्रेष्ठता का निर्णय तो काल करता है परन्तु किसी प्रयोग की ऐतिहासिकता की जाँच करने के लिये सही तथ्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है.

यद्यपि 'फ़िराक़' साहब ने मेरी ग़ज़लों को सरल उर्दू की ग़ज़ल बताया परन्तु हिन्दी के महान साहित्यकार पद्मभूषण पं. श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने उन्हें सरल हिन्दी की ग़ज़लें घोषित करके अपने द्वारा सम्पादित मेरी कृतियों की ग्रन्थावली में उनकी भूरि–भूरि प्रशंसा की.

बच्चन जी भी मेरी ग़ज़लों को मेरी प्रतिभा का नवीन विकास मानकर प्रारम्भ से ही उनकी सराहना करके मुझे उत्साहित करते रहे. अपने ग़ज़लों के प्रयोग के प्रारम्भ में १९६९ में मैंने अपनी प्रारम्भिक ग़ज़लें बच्चनजी को भेजी थीं. उन्होंने मेरे शेरों को लाज़वाब बताते हुये आगे लिखने के प्रोत्साहन के साथ कठोरता से शेरों का चुनाव

करने की सलाह मुझे दी. १९७३ में अपनी पुस्तक 'सौ गुलाब खिले' छपने पर मैंने उन्हें भेजते हुये कहा कि बताइये, इसमें शेरों का चुनाव कठोरता से हुआ है या नहीं.

एक दूसरी घटना मेरी दूसरी ग़ज़ल पुस्तक 'पँखुरियाँ गुलाब की' से सम्बद्ध है. इसका विमोचन बिहार के तत्कालीन राज्यपाल श्री जगन्नाथ कौशलजी द्वारा किया गय था. इसके लिये जब मैं पटना रेडियो के स्टेशन डाइरेक्टर से मिला तो उन्होंने बताया कि मेरी ग़ज़लों का प्रसारण रेडियो के लिये निषिद्ध कर दिया गया है. इसके पूर्व विभिन्न कलाकारों द्वारा रेडियो पर मेरी ग़ज़लों को नियमित रूप से गाया जाता था. उनकी लोकप्रियता एक वर्ग-विशेष को काँटे-सी कसक रही थी. उन्होंने प्रतिष्ठित राजनीतिक व्यक्तियों की सहायता लेकर दिल्ली में डेपुटेशन भेजा तथा भारत सरकार के सूचना-विभाग के एक उच्च अधिकारी द्वारा उन्हें निषिद्ध घोषित करा दिया गया. उनका तर्क था कि गुलाबजी की ग़ज़लें उर्दू ग़ज़लों को खा जायेंगी. मैंने इस षड़यन्त्र को अपनी ग़ज़लों की सफलता के रूप में स्वीकार किया और लोगों के अत्यन्त आग्रह पर भी इसके लिये लड़ने की चेष्टा नहीं की.

इसके ५-७ वर्ष के बाद अखिल भारतीय रेडियो और टी. वी. में गायी जाने के लिये भारत के सूचना विभाग ने मुझसे सार्वकालिक अनुबंध (permanent agreement) किया.

मुझे अपनी ग़ज़लों की सफलता के विषय में कोई शंका नहीं रही जब मैंने पूज्य जयप्रकाश नारायण के स्वर्गवास का समाचार-पत्रों में पढ़ा और यह जाना कि मेरी पुस्तक 'पँखुरियाँ गुलाब की' उनके सिरहाने रखी पायी गयी और वे उसे पढ़ते हुये ही चिर निद्रा में सो गये थे.

यद्यपि मेरी ग़ज़लों की भाषा में हिन्दी में स्वीकृत उर्दू शब्दों का भी प्रयोग हुआ था जिसके कारण उनके उर्दू ग़ज़ल होने का भ्रम

हो सकता था जैसा कि 'फ़िराक़' साहब को हो गया तथा बालस्वरूप राही भी वैसी ही भाषा का प्रयोग ग़ज़लों में करते हैं परन्तु बाद में कविगण हिन्दी की ग़ज़लों में हिन्दी के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग करने लगे हैं. मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हिन्दी ग़ज़लों का प्रचलन आम हो गया है. तत्सम शब्दों में ग़ज़लों की अवधारणा उसके विकास की ही द्योतक है. और कुँवर बेचैन जैसे कवियों की ग़ज़लें यह प्रमाणित करती है कि हिन्दी के तत्सम शब्दों में भी श्रेष्ठ ग़ज़लें लिखी जा सकती हैं.

अब भाषा के शुद्ध हिन्दीकरण के साथ-साथ विषयवस्तु का भी बहुत विस्तार हुआ है. हिन्दी ग़ज़लों में उर्दू के प्रतीकों को तो मैंने ही छोड़ दिया था तथा नये प्रतीक गढ़े थे. अब नये ग़ज़लकार कैसे प्रतीकों को लेकर चलते हैं, यह देखना है. प्रतीकों के माध्यम से जबतक बात नहीं कही जायेगी तबतक नये विषयों को काव्य की ऊँचाई नहीं मिल सकेगी.

अन्त में मैं अपनी हिन्दी ग़ज़लों के कुछ शेर यह दिखाने के लिये लिख रहा हूँ कि कैसे उनकी भाषा से उन्हें उर्दू के शेर होने का भ्रम होता है किन्तु वे हिन्दी की ही ग़ज़लों के शेर हैं.

रोमान्टिक शेर:

१."सिर्फ़ आँचल के पकड़ लेने से नाराज़ थे आप
अब तो खुश हैं कि ये दुनिया ही छोड़ दी हमने"

२. "तेरी खुशबू से है तर बाग़ का पत्ता-पत्ता
क्या जो फ़िर हमको हरेक फूल पे प्यार आ जाये"

३. "एक-से-एक है तस्वीर इन आँखों में बसी
जब जिसे चाहते सीने से लगा लेते हैं"

४. "उसको गुमनाम ही रहने दो, कोई नाम न दो
वह जो खुशबू सी निगाहों में इंतज़ार की थी"

५. "निगाहें बढ़के लिपटती रहीं निगाहों से

चले तो वक्त नहीं था गले लगाने का"

बिम्बात्मकता:

१. "झलकता और ही उनपर है आज प्यार का रंग
किसी ने दूध में केसर मिलाके छोड़ दिया"

२. "हथेलियों में हमारी है चाँद पूनम का
किसी की शोख लटों में उतर गई है रात"

सांस्कृतिक:

१. "अपनी नागिन–सी लटें खोल दी होंगी उसने
हम न होंगे तो क़यामत नहीं आई होगी"

२. "क़सूर है मेरे देखने का
कि है तेरा आइना ही झूठा
कभी जो तू था तो मैं नहीं था,
अभी जो मैं हूँ तो तू नहीं है"

३. "हम लहर पर खड़े हैं बुत की तरह
और बहते हैं किनारे क्या खूब!"

ठ आठ पर कभी आई, न मन के दुवार गई
एक बात मेरी चेतना सवार गई

तुम को वीर को गीतों में भर दिया मैं ने
जहां हूं प्रेम वहां जिन्दगी भी हार गई

डाल पे, पत्तों में, फूल में, फल में
कहां-कहां न तुझे ढूंढने बहार गई ?

बेली के रस का उन्माद भूलता ही नहीं
बजती जाती-सी सीने के आर-पार गई

तब से देखा जो तुम ने मरी-मरी आंखों
लगा कि फिर से मुझे चांदनी पुकार गई

किसी घटा मेरी आंखों से छोड़ बन-बन कर
कहीं ही प्राण से जाई थी झार-झार गई

न तो विलास की क्रीड़ा, न तो मिलन का उछाह
मैं किस घटी में तुझे जन्मना उतार गई ?

तुम को साध कुंवारी हूं अब भी तेरे लिए
मगर तो और मेरे प्रेम को निखार गई

जहां-जहां भी कसम प्यार की खाई तुम ने
वहीं-वहीं पे मेरी दृष्टि बार-बार गई

कहां की कहती आंखों की रागिनी बन कर
मैं कौन प्राण में पीड़ा का रस पिसार गई ?

सूर्यास्त भर गई जीवन में प्रेरणा किस की
किसी की बात थी, सपनों का कर सिंगार गई